- **सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।**[५]

अर्थात् परमात्मा हम दोनों का रक्षण करें, हम दोनों का पालन करें, हम दोनों को एक ही समय सामर्थ्य-सम्पादन करायें।

मुख्य चर्चा

प्राचीन समय से ही भारतवर्ष एक आध्यात्मिक तथा धर्मप्रधान देश रहा है। इसी कारण धर्मनीति के सतत पालन से भारत ने जगद्‌गुरु और विश्वगुरु जैसी पदप्रतिष्ठा अर्जित की है। धर्मशास्त्र परम प्रामाणिक मनीषी आचार्य मनु कहते हैं –

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[६]

विश्व में पद, प्रतिष्ठा, अर्थ, काम जैसे अन्य सभी विषयों को लेकर परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, कलह और अशान्ति जन्मती हैं। मात्र धर्म ही अण्ड ब्रह्माण्ड को संतुलित बनाये रखने वाला ऐसा तत्त्व है जो पूर्ण निरापद शान्तिप्रदायक, रक्षक, मोक्षसाधक, मानवता का पर्याय और पुरुषार्थचतुष्टयरूप प्राप्ति का आदिद्वार है। इसके बिना सकल जीव-जगत् आधारहीन, अशान्त, अव्यवस्थित, असंतुलित, मानवता-विहीन और लोक-परलोक की सिद्धि से सर्वथा रहित हो सकता है। मनुस्मृतिकार धर्म के सामान्य लक्षणों पर दृष्टिपात करते हुए लिखते हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[७]

इन दस लक्षणों से युक्त धर्म से समूचा मानव जगत् एक सही पथ पर होगा। महर्षि वेदव्यास ने यक्षमुख से भी महाभारत के अन्तर्गत धर्म के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है –

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मात्र प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन मनः स पन्थाः।।[८]

अर्थात् तर्क को कहाँ स्थिति नहीं है, श्रुतियां भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाये तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है। अतः जिस मार्ग से महापुरुष जाते रहे हैं वही नीतिमार्ग है।

भारतीय साहित्य में नीतिशास्त्र का स्थान

नीति का तात्पर्य है – नीयन्ते उन्नीयन्ते अर्था अनया। णीञ् प्रापणे धातु नी + क्तिन् प्रत्यय अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाये या अर्थ समझा जाये वह नीति है। शुक्रनीति ग्रन्थ में नीति की परिभाषा देते हुए लिखा है –

---

५. कठोपनिषद् १.१
६. मनुस्मृति २.२०
७. मनुस्मृति ६.९२
८. महाभारत वन पर्व ३१३.११७

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यत॥[१]

नीतिशास्त्र सभी की जीविका का साधन, लोक की स्थिति सुरक्षित करने वाला, धर्म, अर्थ काम का मूल एवं मोक्ष प्रदान करने वाला है।

नीति के निम्नशाब्दिक अर्थ है -

- सदाचार
- आचार-पद्धति
- व्यवहार की रीति
- राजा और प्रजा की रक्षाके लिये निर्धारित व्यवस्था
- लोक या समाज के कल्याण के लिये उचित ठहराया हुआ आचार
- राज्य की रक्षा के लिये काम में लायी जाने वाली युक्तियाँ आदि

धर्म के अन्तर्गत नीति-बोधक स्वतन्त्र नीतिशास्त्र भी विद्यमान है - **नीतिबोधकं शास्त्रम्।** उदाहरणार्थ- बृहस्पतिजी का 'बार्हस्पत्यनीतिशास्त्र' प्रसिद्ध है जो राजनीति का ग्रन्थ माना जाता है। शुक्राचार्य की 'शुक्रनीति' प्रसिद्ध है जिसमें राजनीति, धर्मनीति तथा लोकाचारनीति आदि का पूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। मौर्ययुगीन चाणक्य का अर्थशास्त्र अति प्रसिद्ध है। चाणक्य के द्वारा रचित लघुकलेवरात्मक एक अन्य नीति-ग्रन्थ 'चाणक्यनीति' भी प्रचलित है। कामन्दक का 'कामन्दकीय नीतिसार' नामक ग्रन्थ में राजनीति पर पर्याप्त जानकारी मिलती है। विदुरजी की 'विदुरनीति' में धर्माधर्म, न्याय-अन्याय का निर्णय न कर पाने वाले अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र को दिये गये उपदेश हैं। भर्तृहरि का नीतिशतक ग्रन्थ समाज में अतिप्रसिद्ध है। विष्णुशर्मा द्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' तथा नारायण पंडित द्वारा रचित 'हितोपदेश' आदि नीतिपरक ग्रन्थ भी भारत ही नही अपितु सकल जगत् में प्रसिद्ध है।

नीतिशास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन

मानव जीवन में नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानवता जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त नीति पर ही आधारित है। महान् गौरव की बात है कि नीतिशास्त्र का सूत्रपात भारत में हुआ है। वैदिक शास्त्रों में तत्त्वज्ञान के साथ जीवनोपयोगी बहुत सी कथाएँ, प्रसंग और संवाद उपलब्ध होते हैं। शास्त्र के आदि उद्भावक भगवान ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा जी से को शंकर जी फिर क्रमशः इन्द्र, बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि को प्राप्त होता हुआ यह नीतिशास्त्र आज लोक में व्याप्त हो गया है। नीतिशास्त्र के अनेकों ग्रन्थ हैं जिनमें पंचतन्त्र का इतिहास अति प्राचीन है। नीतिकथाओं का आदर्श केन्द्र पञ्चतन्त्र ही रहा है। भारत से फारस में नीतिकथाओं का प्रचार-प्रसार हुआ। ५३३ई. में फारस के बादशाह खुसरो नौशेरवाँ के दरबारी हकीम बुरजोई ने पञ्चतन्त्र का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। ५६० ई. में एक ईसाई पादरी ने कलिलग और दमनग नामक पहलवी से सीरियन भाषा में इसका अनुवाद किया था। सीरियन से अरबी अनुवाद अब्दुला बिन अलमुकफ्फा ने ७५० ई० में किया तथा ७८१ ई० में दूसरा अनुवाद अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में किया था। सहल-बिन नवरख्त ने इसका अनुवाद

१. शुक्रनीति १.५

अरबी कविता में किया था। ६६८ ई० में तैयार किये चीन के विश्वकोश में भारतीय कथाओं का उल्लेख मिलता है। इस तरह इन कहानियों के अनुवाद लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच तथा स्पैनिश आदि भाषाओं में १६वीं शताब्दी तक होते रहे। **सालोमन्स जजमेन्ट** एवं **सिकन्दर** की अन्य जितनी कथाएँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में उपलब्ध हैं, उनमें भारतीय कथाओं का उल्लेख प्राप्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीतिशास्त्रीय परम्परा का मूलाधार भारत ही है। भारतीय नीतिशास्त्रीय परम्परा का सक्षिंप्त विवरण इस प्रकार है –

१. **पञ्चतन्त्र** – तन्त्राख्यायिका नामक इसका प्राचीन काश्मीरी संस्करण अद्यावधि उपलब्ध है।

वर्तमान में इसके चार संस्करण उपलब्ध हैं –

- पहलवी अनुवाद – सीरियन एवं अरबी अनुवाद में प्राप्य
- गुणाढ्यकृत बृहत्कथाके बृहत्कथामञ्जरी एवं सोमदेवकृत कथासरित्सागर
- तन्त्राख्यायिका
- दक्षिणी पञ्चतन्त्र का मूल रूप।

पञ्चतन्त्र में मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक नामक पाँच तन्त्र हैं। महिलारोप्य नगर के अमरशक्ति नामक राजा के मूर्ख पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिये आचार्य विष्णुशर्मा ने यह ग्रन्थ तैयार किया था। इसकी कथाओं के माध्यम से राजकुमारों में सदाचार नैतिकता एवं व्यवहारकुशलता की प्रतिष्ठा हो गयी थी। इसमें विनोदपूर्ण मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया गया है। उपदेशकी सूक्तियाँ पद्य में हैं एवं कथानक गद्य में। उपदेश का मूल कथ्य प्रायः प्राचीन ग्रन्थों से लिया गया है। नीतिकथाओं के माध्यम से व्यवहारज्ञान की तथा लोकशिक्षा की बात बतलाने वाला यह अनूपम ग्रन्थ है।

२. **नीतिमञ्जरी** – आचार्य द्याद्विवेद ने १५वीं शताब्दी में ऋग्वेद के संवादसूक्तों पर आधारित यह संग्रह तैयार किया था। इसमें वेदार्थदीपिका एवं सायण के वेदभाष्य से अनेक उद्धरण संगृहीत हैं।

३. **हितोपदेश** – पञ्चतन्त्र के आधार पर ही नारायण पण्डित ने चौदहवीं शताब्दी के आस-पास हितोपदेश नामक ग्रन्थ लिखा था। मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह एवं सन्धि नामक इसमें चार परिच्छेद हैं। इसमें भाषा सरल-सुबोध, श्लोक उपदेशात्मक और कथाएँ शिक्षाप्रद हैं।

४. **बृहत्कथा** – गुणाढ्य पण्डित ने प्रथम शताब्दी में पैशाची भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की थी इसमें संस्कृत साहित्य की मनोरञ्जक कथाओं का संकलन है।

वर्तमान में संस्कृत में इसके तीन रूप उपलब्ध हैं –

- बृहत्कथाश्लोकसंग्रह – बुधस्वामीकृत
- बृहत्कथामञ्जरी – क्षेमेन्द्रकृत
- कथासरित्सागर –सोमदेवकृत

५. **वेतालपञ्चविंशति** – जम्भलदत्त ने वेताल-पञ्चविंशति नामक संग्रह में बेताल की पचीस कहानियों का संग्रह तैयार किया था। इसकी भाषा गद्यमयी और कथाएँ रोचक, बुद्धिवर्धक एवं कौतूहलवर्धक हैं।

६. **बृहत्कथामञ्जरी** – क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी में अठारह अध्याय हैं। कथानायक वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत है। कथा का आरम्भ उदयन एवं वासवदत्ता के संवाद से होता है।

७. **बोधिसत्त्वावदान** – क्षेमेन्द्रकृत इस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के पारमितासूचक आख्यानों का संग्रह है। इसमें बुद्ध के शुभ चरितों का वर्णन है।

८. **राजतरंगिणी** – कल्हण विरचित राजतरंगिणी में आठ तरंग हैं। इस ग्रन्थ में पौराणिक आख्यानों और प्रामाणिक इतिहास की योजना है। भौगोलिक विवरण के आधार पर ऐतिहासिक तथ्य सत्य सिद्ध हुए हैं। बौद्ध एवं जैन धर्मो का सामञ्जस्य भी इस ग्रन्थ में दिखायी देता है।

९. **विक्रमचरित** – यह सिंहासन द्वात्रिशिका नाम से प्रसिद्ध है। इसमें राजा भोज की बत्तीस कहानियों का संग्रह है। उत्तरी और दक्षिणी दो वाचनिकाएँ मिलती हैं। विक्रमचरित पद्य एवं गद्य दोनों स्वरूपों में मिलता है।

१०. **शुकसप्तति** – एक तोता परदेश जाने वाले पति के प्रति सद्भाव स्थिर रखने के लिए स्वामिनी को कहानियाँ सुनाता है। इसकी एक विस्तृत एवं एक संक्षिप्त वाचनिका है।

इन नीतिपरक कथा-संग्रहों के अतिरिक्त पुरुषपरीक्षा प्रबन्धकोश, कथारत्नाकर, भट्टकद्वात्रिंशिका, प्रबन्धचिन्ता-मणि, विविधतीर्थकल्प, भोजप्रबन्ध, अवदानशतक, दिव्यावदान आदि नीतिकथाओं के संग्रह भी प्रसिद्ध हैं।

भारतीय साहित्य में नीतिशास्त्र की आवश्यक्ता और उपयोगिता

भारतीय साहित्य में वेदों की अपौरुषेयता, पौराणिक साहित्य का विस्तार, महाभारत एवं रामायण के साहित्यिक स्वरूप तथा उपनिषदों की चिन्तनीय परम्परा के निचोड़ को लोकजीवन में प्रवर्तन के लिए एक सरल, सहज एवं बोधगम्य भाषा युक्त साहित्य की अपेक्षा और इसकी पूर्ति हेतु लोकजीवन के परम्परागत ज्ञान की धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये एक नैतिक साहित्यिक स्वरूप की प्रबल आवश्यकता प्रतीत हुई। प्राच्य एवं पूर्ववर्ती ज्ञान को साहित्यिक स्वरूप देने के लिये कथाओं, आख्यानों, वार्ताओं एवं संवादों के माध्यम से विभिन्न नैतिक आख्यानसंग्रहों का आविर्भाव हुआ। पहले सामान्य जन साहित्यिक चेष्टाओं से अपरिचित थे परन्तु परवर्तीकाल में इसकी पूर्ति में इन नैतिकपरक संग्रहों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। जातिधर्म के बन्धन से दूर हिन्दू, जैन, बौद्ध, इस्लाम सभी धर्मों की नीतिगत मान्यताओं को इन संग्रहों में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। साहित्य की प्रचुरता के कारण आजतक सामान्य जनजीवन में इन कहानियाँ को अच्छा सम्मान मिला हुआ है। भारत को इस नैतिकता के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का सौभाग्य भी इन कहानियों के माध्यम से ही प्राप्त हुआ है। इन ग्रन्थों को धार्मिक सहिष्णुता एवं सामञ्जस्य के कारण ही अरबी एवं आंग्ल जैसी भाषाओं में भी इनके अनुवाद हुए हैं। आख्यानों के माध्यम से गूढतम ज्ञान को भी सरलता से उद्घाटित करना तथा व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति कराना-यही इन नीतिकथाओं का मूल उद्देश्य रहा है। इन नीतिपरक ग्रन्थों में हमारे सम्पूर्ण आर्षवाङ्मय सें संकलित नीति-वाक्यों की भरमार है अर्थात् वेद, उपनिषद्, स्मृति तथा समस्त पुराण। यह साहित्य नीतिपरक वाक्यों से भरे पड़े हैं। नीतिशास्त्र सम धर्मशास्त्र का ही एक अङ्गविशेष है। धर्म से पृथक् नहीं है क्योंकि नीति के बिना धर्म भी एक आडम्बरमात्र ही बनकर रह जाता है। अधर्म में नीतिवाक्यों की क्या आवश्यकता? अतः नीतिवाक्यों की सार्थकता मानवधर्म में ही हो सकती है अधर्म में नहीं। इसलिये मानवधर्म से नीति को पृथक् नहीं किया जा सकता है। धर्म और नीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

अवसादमुक्ति में नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान की परस्पर सहभागिता

नीतिशास्त्र की मनोवैज्ञानिक उपचार विधि अवसाद के उन्मूलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मनोवैज्ञानिक उपचार की सफलता आपके लक्षणों की गंभीरता, चिकित्सक के साथ आपके रिश्ते और आपकी व्यक्तिगत परिस्थितियों जैसे कारकों पर निर्भर करती है। ऐसे में व्यक्तिगत परिस्थितियों में बहुत विभिन्नताएं पायी जाती हैं। नीतिशास्त्रों में ऐसे अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनको पढ़कर रोगी को लगता है कि यह बात तो मुझसे ही जुड़ी हुई है। भावनात्मक जुड़ाव होने से रोगी नीतिशास्त्र से जुड़कर जीवन का महत्त्व समझने लगता है। अवसादग्रस्त रोगी को कथाओं के माध्यम से पता चलता है कि उसका दु:ख ही दु:ख नहीं अपितु भूतकाल में लोगों ने इससे भी बड़े बड़े दु:ख झेले हैं। हर अंधकार के बाद एक प्रकाश की किरण आती है। मनोवैज्ञानिक उपचार किसी व्यक्ति को अवसाद की भावनात्मक गहराई से बाहर निकालने में मदद तो करता ही है साथ ही साथ उसे फिर से उदास होने से भी बचाता है। थेरेपी सत्रों का उपयोग लोगों को नकारात्मक विचारों से उचित तरीके से निपटने में सहायता करने के लिए निर्धारित की गई रणनीतियों को सिखाने के लिए किया जाता है। नियमित रूप से एक नीतिशास्त्रज्ञ चिकित्सक से मिलना भी एक सकारात्मक ऊर्जावान् भावनात्मक समर्थन प्रदान कर सकता है। नीतिशास्त्रों के स्वाध्याय और मनन से पता लगाने में मदद कर मिलती है कि अवसाद का कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपचार चिकित्सकों द्वारा अभ्यास, विशेष मनोचिकित्सा और मनोदैहिक क्लीनिकों और पुनर्वास सुविधाओं में नीतिशास्त्र का ज्ञान दिया जाता है। प्रत्येक सत्र में एक विशेष विषय होता हैं, उसकी रोचकता बनाये रखने की भाषा दक्षता और सटीक उदाहरणों की आवश्यकता होती है जो कि नीतिशास्त्रों में भरे पड़े हैं। समूह चिकित्सा, व्यक्तिगत चिकित्सा और समूह सत्रों के संयोजन में भी व्यास विधि से नीतिशास्त्रों के शिक्षण द्वारा संभव है। यदि आवश्यक हो तो प्रियजन भी चिकित्सा में भाग ले सकते हैं इससे रोगी को यह भी नहीं लगेगा कि यह शिक्षण मात्र रोगियों के लिए है।

अवसाद में नीतिशास्त्रयुक्त प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपचार विधियां –

- **संज्ञानात्मक व्यवहार थेरेपी** – इस थेरेपी दृष्टिकोण का उद्देश्य व्यवहार और दृष्टिकोण को बदलने के साथ साथ वर्तमान समस्याओं पर काम करते हुए उसका ठोस समाधान ढूंढना है। नीतिशास्त्रों के माध्यम से रोगी साहित्य में से सूक्ति, सुभाषित, कथा आदि में से स्वयं से संबंधित समस्या और समाधान पर अपना ध्यान लगाता है जो उसके मस्तिष्क को केन्द्रित करने के साथ साथ स्वोपचार में भी सक्रिय बनाता है।
- **विश्लेषणात्मक मनोचिकित्सा** – विश्लेषणात्मक चिकित्सा रोगी के पिछले अनुभवों पर अधिक ध्यान केंद्रित करती है। इसका उद्देश्य व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के संभावित कारणों का पता लगाना है और उदाहरण के लिए, समस्याग्रस्त संबंध अनुभवों के माध्यम से काम करना है। नीतिशास्त्रों का संधि-विग्रह नियम समझाता है कि उलझे हुए समस्याग्रस्त संबंधों से कैसे निकला जाता है। आपातकालीन स्थिति में विवेक युक्त बुद्धि से अवसाद जैसी बीमारियों से बचा जा सकता है।
- **गहन मनोचिकित्सा** – यह विश्लेषणात्मक चिकित्सा के समान है, लेकिन यह वर्तमान संघर्षों पर अधिक ध्यान केंद्रित करती है और सामान्यत: लंबे समय तक नहीं चलती है। इसमें लघुकथाओं और सूक्तियों की सहायता ली जा सकती है।
- **प्रणालीगत चिकित्सा** – प्रणालीगत चिकित्सा सामाजिकता और अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित है। लोगों के

• बीच संबंध, विशेष रूप से परिवार के अन्दर, अवसाद के विकास और उपचार में यह विधि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का उद्देश्य परिवार के सदस्यों के साथ उचित रूपेण संवाद करने और एक–दूसरे को समझते हुए अधिक सहायता देने में मदद करना है।

निष्कर्ष – उपर्युक्त चारों दृष्टिकोण मनोविज्ञान या चिकित्सा में पृष्ठभूमि वाले मनोचिकित्सकों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे मनोचिकित्सकों को नीतिशास्त्रों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए जिससे वो इन विधियों में नीतिशास्त्र रूपी नवाचार का भी उपयोग करके अपनी सफलता में गुणवत्ता भी ला सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ –

- धाभाई, धीरसिंह, शैक्षिक मनोविज्ञान, अवनी प्रकाशन, बीबासर, मुद्रित
- जादौन, वन्दना, शिक्षा मनोविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र, जादौन प्रभात प्रकाशन, जयपुर
- 'अर्पण', दयानन्द, ऋग्वेदभाष्यम्, विश्व मानव उत्थान परिषद, नई दिल्ली, सन् २००५, मुद्रित
- ईशादि दशोपनिषद् – प्रथम भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् २०००, मुद्रित
- शास्त्री, पं. श्री हरगोविन्द, मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सन् १९८४, मुद्रित
- श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरपुर, वि.सं. २०३८, मुद्रित
- गोयन्दका, जयदयाल, संक्षिप्त महाभारत – प्रथम खण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. २०५२, मुद्रित
- गोयन्दका, जयदयाल, संक्षिप्त महाभारत – द्वितीय खण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. २०५२, मुद्रित
- पाण्डेय, श्री श्यामा चरण, पञ्चतन्त्रम् – सम्पूर्ण, मोतीलाल बनारसीदास, जयपुर, सन् १९९०
- भट्ट, पं. रामेश्वर, हितोपदेश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सन् २००७
- त्रिपाठी, डॉ. श्रीकृष्णमणि, भर्तृहरि शतकत्रयम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००८
- शर्मा, डॉ. गोपाल, संस्कृत लोककथा में लोकजीवन, हंसा प्रकाशन, जयपुर, सन् १९९९, मुद्रित
- पाण्डेय, श्री श्यामा चरण, पञ्चतन्त्रम् – सम्पूर्ण, मोतीलाल बनारसीदास, जयपुर, सन् १९९०, मुद्रित
- शास्त्री, डॉ. भीमराज शर्मा, हितोपदेशः (सम्पूर्ण) हंसा प्रकाशन, जयपुर, सन् २०१२, मुद्रित
- त्रिपाठी, डॉ. श्रीकृष्णमणि, भर्तृहरि शतकत्रयम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् २००८, मुद्रित
- भारतीय, डॉ. महेशचन्द्र, नीतिशतकम्, साहित्य भण्डार शिक्षा साहित्य प्रकाशक, मेरठ, सन् १९९४–९५, मुद्रित
- शास्त्री, माणिक्यलाल, चाणक्य सूत्रम्, हंसा प्रकाशन, जयपुर, सन् १९९५, मुद्रित
- 'तनेजा', डॉ. सुभाष वेदालंकार, संस्कृत देशभक्ति गीतम्, अलंकार प्रकाशन, जयपुर, सन् १९९८, मुद्रित
- 'शास्त्री', डॉ. भीमराज शर्मा, संस्कृत साहित्य में नैतिक शिक्षा एवं राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर, सन् २००८, मुद्रित
- पाण्डेय, डॉ. राम सजन, निर्गुण काव्य प्रेरणा और प्रवृत्ति, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९९८, मुद्रित
- तिवारी, डॉ. रामानुज, ब्राह्मणवादी पम्परा एवं सामाजिक चेतना, जानकी प्रकाशन, पटना, सन् २००२, मुद्रित
- डॉ. शिवसागर त्रिपाठी एवं पद्मशास्त्री, श्री राष्ट्रालोकः, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, सन् १९९२, मुद्रित
- गोयन्दका, जयदयाल, तत्त्वचिन्तामणि (सातों भाग) गीताप्रेस, गोरखपुर, वि.सं. २०५२, मुद्रि

–सहायक आचार्य,
४१४ गौतम बुद्ध निवास, बनस्थली विद्यापीठ,
निवाई, टोंक (राज.) ३०४०२२

आधुनिक संस्कृत साहित्य का कालण्ड तथा तत्कालीन सामाजिक परिवर्तनः एक दृष्टिक्षेप

-प्रो. शुचिता लालचंद दलाल

'नूतन काल' यह अर्वाचीन काल का अर्थ है। आधुनिक अर्थात् अभी का या सद्या का। यही काल अर्वाचीन है। जब काल का वर्णन किया जाता है, तो इस शब्द के विविध पैहलू विद्यमान होते हैं। जिस प्रकार 'काल' याने एक सामान्य समय। तथा दूसरे पैहलू में 'संवत्सर' भी होता है। अतः आधुनिक काल में कौन सी शताब्दीयाँ समाविष्ट हैं, यह देखना आवश्यक है। वास्तव आधुनिक काल के विचार तथा प्राचीन काल के विचार को भी यहाँ समाविष्ट करना जरूरी है। अतः विविध विद्वानों के मत यहाँ प्रकट करने का प्रयास है।

कालखण्ड :-

नागपुरस्थ कै. डॉ. श्री. भा. वर्णेकर सत्रहवीं शताब्दी को अर्वाचीन काल मानते हैं। क्योंकि ब्रिटिशों का भारतवर्ष में आगमन होने के कारण भारतमाता का 'राज्यकाल' लुप्त होने लगा। विविध विचार तथा परिवर्तन में हालहल हो गये। इसी कारण प्राचीन काल की राजसत्ता में परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ। अतः डॉ. वर्णेकर सत्रहवें शतक से अर्वाचीन काल मानते हैं।

आधुनिक साहित्य के शिरोमणि डॉ. हीरालाल शुक्ला जी ने १७८४ से १९१९ तक अर्वाचीन काल माना है। आधुनिक संस्कृत साहित्य के स्वरचिता डॉ. हीरालाल शुक्ला जी ने अपने ग्रन्थ में नवजागृती का विद्रोह १७८४ में आरम्भ हुआ, यह उल्लेखित करते हैं। तथा उनके मतानुसार १९१९ तक ही यहाँ अर्वाचीन काल की मर्यादा थी।

महाराष्ट्र शब्दकोश में १८१८ से १८४५ तक अर्वाचीन कालसमय उल्लेखित किया है। तथा संशोधन की दृष्टि से अभिप्रेत काल १८५७ से १९९१ तक का मानते है। १८५७ का 'उठाव' याने ब्रिटिशों के विरुद्ध का काल तथा राजीव गांधी जी के निधन के उपरान्त काल अर्वाचीन मानते हैं। इस प्रकार विविध विद्वानों के विविध मत कालखण्ड का विचार करते हैं।

अर्वाचीन काल के तीन खण्ड -

देशभक्तों पर संस्कृत कवियों ने अनेक ग्रंथों की रचना की हैं। संस्कृत साहित्य में नाटक तथा महाकाव्य की रचना देशहितार्थ कवि करने लगे। अतः तत्कालीन परिस्थिति देखते हुए अर्वाचीन काल तीन खण्डों में विभाजित होता है।

प्रथम - तिलक युग - ई.स.१८५७ - १९२०

द्वितीय – गांधी युग – ई.स.१९२० – १९४७

तृतीय – स्वतंत्र भारत– ई.स.१९४७ – २०१९

यहाँ तीसरा काल ब्रिटिशों के विरुद्ध असंतोष होने का काल है।

तिलक युग में स्वातंत्र्य प्राप्यर्थ 'केसरी' जैसे वर्तमान पत्र द्वारा ब्रिटिशों से लड़ाई करके उन्हें भारत से बहार निकालने का कार्य करने हेतु जनसमाज को उत्साहित किया।

बाल गंगाधर तिलक के इस कार्य के कारण जनसामान्य में देश के प्रती जागरुकता हुई। ई.स.१७५७ से १८५७ इस कालावधी में संस्थानिक, जमीनदार, दास, खेतीहर, कारीगर इत्यादि शोषित समाज ने 'उठाव' किया। अंग्रेजी सत्ता मानो स्तब्ध हो गई।

तिलक जी ने अपने 'कलम' से समाज में अपने देश के प्रती भक्ति–भाव निर्मित किया। ब्रिटिश विरुद्ध लेखनी से समाज जागृत हुआ। स्वातंत्र्य प्राप्ती के लिए जनमानस में आक्रोश उत्पन्न हुआ।

एक तरफ समाज के जो विचार थे, उसमे बदलाव लाना जरूरी था। आगरकर जी के मत में प्रथमतः सामाजिक विचार में परिवर्तन कर उसे आधुनिक विचार में परिवर्तन करना था। लेकिन तिलक इत्यादि ने प्रथम स्वातंत्र्य तथा बाद में विचार परिवर्तन ऐसे अलग–अलग मत थे। फिर भी एक सामान्य दृष्टि से देखा जाए तो अधिक प्रतिष्ठत लोगों ने प्रथम स्वातंत्र्य का मत था।

राजा राममोहन राय ने नारी के प्रति उनकी भावना श्रेष्ठता हेतु समाज के परंपरागत मत को विरोध किया। पति की मृत्यु होने के बाद पत्नी 'सती' होकर अपना जीवन समाप्त कर देती थी। राजा राममोहन राय को ये 'प्रथा' बिल्कुल ही मान्य नहीं थी। उन्होंने इस परम्परा में परिवर्तन हेतु कार्य किए। वे सफल हुए और ये सती परम्परा बंद हुई।

नारी के प्रति भी समाज में परिवर्तन हुआ। और अनेक महिलाओं का जीवन समाप्त होने से बचा तथा महिलाओं के पुनर्विवाह को भी मान्यता प्राप्त हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नारी का पुनर्विवाह मान्यता है। उसके नियम के अनुसार अगर सात साल तक पती घर में वापस नहीं आता तो पत्नी दूसरी शादी कर सकती है।

छोटी आयु में बालिका का विवाह करना उसमें भी समाज का परिवर्तन हुआ तथा वेदों में जैसे नारी की शिक्षा होती थी, उसी प्रकार आधुनिक विभूतिओं ने भी ज्योतिबा फुले–सावित्रीबाई फुले ने नारी की शिक्षा का अनुरोधन किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी महिलाओं के लिए पाठशालाएँ शुरू कीं।

इस प्रकार आधुनिक काल की जो स्थिति है वह मध्यम काल खण्ड में थी। अनेक संत, विभूति, महर्षि तथा नेताओं ने समाज परिवर्तन विचारों में कार्यरत थे।

जातपात के प्रति स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी ने विरोध कर एकसाथ भोजन करके के प्रयोग किए। उसमें वे सफल हुए।

स्वामी विवेकानंद जी ने समाज के क्षीण लोगों के लिए तथा स्वास्थ के लिए 'रामकृष्ण मठ' की स्थापना की, गरीब लोगों के लिए तथा रुग्णों के लिए अपना जीवन समर्पित किया ही तथापि आध्यात्मिक दृष्टि से मठों की स्थापना कर जनता में अपने विचार व्याख्यान द्वारा प्रकट किए।

स्वास्थ्य हेतु 'राजयोग' की उन्नती उन्होंने की। इस प्रकार आधुनिक काल में तत्कालिन समाज के विचारों में परिवर्तन करने में सफलता प्राप्त हुई।

संदर्भ - अर्वाचीन संस्कृत विभूतिकाले -

लेखक - डॉ. शुचिता ला. दलाल, विश्वभारती प्रकाशन, सीताबर्डी, नागपूर

-विभागाध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपूर विद्यापीठ,
नागपूर (महाराष्ट्र

महाकवि कालिदास की कृतियों में शकुन-अपशकुनोल्लेख

-डॉ. विशाल भारद्वाज

भारतीय परम्परा में शकुन-अपशकुन को आदि काल से समाज मान्यता प्रदान करता चला आया है। संस्कृत कवियों ने अपनी कृतियों में इन शकुनों एवं अपशकुनों का उल्लेख करते हुए इन शकुनों एवं अपशकुनों की मान्यता को सुदृढ़ता प्रदान करने के साथ-साथ इनकी व्यवहारिकता को भी सिद्ध किया है। संस्कृत महाकवियों में महाकवि कालिदास को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इन्होंने अपनी काव्य-कृतियों में अनेक स्थलों पर इन शकुनों एवं अपशकुनों का उल्लेख करते हुए इनके प्रभाव को परिलक्षित किया है। अपने इस शोध-पत्र में महाकवि कालिदास द्वारा वर्णित कतिपय शकुनों एवं अपशकुनों का विश्लेषण यहाँ करने का प्रयास किया जा रहा है।

शकुनशास्त्र का मानना है कि पुरुष की दाईं भुजा का फड़कना शुभ का सूचक है। इस सन्दर्भ में महाकवि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में इन्दुमती का स्वयंवर-प्रसंग द्रष्टव्य है। अपने स्वयंवर के समय राजकुमारी इन्दुमती वरमाला हाथ में लेकर जिस-जिस राजा के आगे से निकल जाती है, उस-उस राजा का मुख उदास हो जाता है। जब वह राजा रघु के पुत्र अज के आगे से निकलती है, तो अज के मन में संशय होने लगता है कि इन्दुमती उसका वरण करेगी अथवा नहीं। किन्तु उसी समय अज के भुजबन्ध के पास उसकी दाईं भुजा फड़कने लगी, जिससे उसकी शंका निवृत्त हो गयी -

''सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत्।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद॥''[१]

इन्दुमती ने जब सर्वाङ्गसुन्दर राजा अज को देखा, तब वह वहीं रुक गयी और आगे किसी अन्य राजा की ओर नहीं बढ़ पायी तथा उसने वह स्वयंवर की माला सुनन्दा के हाथों रघुतनय अज के गले में पहना दी -

''सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥''[२]

अतः अज की दाहिनी भुजा के फड़कने रूपी शकुन का शुभ-लाभ उसे इन्दुमती की पत्नी के रूप में प्राप्ति से सिद्ध हुआ। ऐसा ही दृष्टान्त हमें विक्रमोर्वशीय नाटक में प्राप्त होता है। राजा विक्रम उर्वशी को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक है। राजा का मित्र विदूषक राजा को भविष्य में उर्वशी के साथ समागम का धैर्य बंधवाता है। तब राजा विक्रम शुभ शकुन की सूचना देता हुआ अपने मित्र विदूषक को कहता है कि मित्र! आशाभरी बातें

१. रघुवंश, ६/६७-६८
२. रघुवंश, ६/८३

कहकर विरहावस्था में व्यथित उसको मित्र विदूषक ने ढांढस बंधाया है। साथ ही राजा की दाहिनी भुजा फड़ककर उसे आश्वस्त करती जा रही है -

''वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।
अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः॥''[३]

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में राजा दुष्यन्त की दाहिनी भुजा कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व फड़कती है। वह अपने मन में विचार करता है कि इस शान्त तपोवन में दाहिनी भुजा का फड़कना उसे क्या फल प्रदान कर सकता है? परन्तु साथ ही उसके मन में विचार आता है कि यदि आपका भाग्य अनुकूल हो तो व्यक्ति जहां भी जाये, उसके लिये सफलता के द्वार स्वतः खुल जाते हैं -

''शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥''[४]

यहां भी राजा दुष्यन्त की दाहिनी भुजा का फड़कना पूर्णतयः सार्थक सिद्ध होता है, क्योंकि उसे इस शकुन के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका की पुत्री शकुन्तला की प्राप्ति हो जाती है।

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के अन्तिम अंक में जब राजा महर्षि कश्यप के आश्रम में प्रवेश करता है तो शुभ शकुन की सूचना देती हुई उसकी दाहिनी भुजा फड़कती है। इस शुभ शकुन को देखकर राजा दुष्यन्त सोचता है कि शकुन्तला रूपी अपनी अभिलाषा के लिए तो वह आशा ही नहीं करता। अतः हे बांह! तब वह व्यर्थ क्यों फड़क रही है? क्योंकि जिस कल्याणकारक वस्तु का पहले तिरस्कार कर दिया जाता है, वह फिर दुःख के रूप में ही परिवर्तित हो जाती है अर्थात् उसकी पुनः प्राप्ति अत्यन्त कठिनाई से होती है-

''राजा - (निमित्तं सूचयित्वा)
मनोरथाय नाशंसे किं बाहो ! स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते॥''[५]

यहां राजा की दाहिनी भुजा के फड़कने का फल उसको अपनी पत्नी शकुन्तला और अपने पुत्रा सर्वदमन की प्राप्ति के रूप में होने वाला है, जिससे उसकी दाहिनी भुजा का फड़कना पूर्णतः सार्थक सिद्ध होता है।

राजा दशरथ ने जब जनकपुरी से अपने चारों पुत्रों और पुत्रवधुओं सहित वापिस अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया तो मार्ग में सेना के ध्वजारूपी वृक्षों को झकझोर देने वाली वायु ने समस्त सेना को अत्यन्त क्लेश दिया। तदनन्तर सूर्य के चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया जोकि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो गरुड़ द्वारा मारा गया कोई साँप अपने सिर से गिरे हुये मणि के चारों ओर कुण्डली मारकर बैठ गया हो। जिस प्रकार रूखे तथा मैले बालों एवं रक्त से लाल कपड़ों वाली रजस्वला स्त्री देखने में अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार उस समय वे चारों दिशायें भी आँखों को अच्छी नहीं लग रही थीं, जिनमें मटमैले बाजों के पँख उड़ रहे थे तथा जो सन्ध्या के

---

३. विक्रमोर्वशीयम् , ३/९
४. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , १/१६
५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् , ७/१३

लाल बादलों से व्याप्त थीं। सहसा सूर्य की ओर मुख करके सियारिनें रोने लगीं, मानो कि वे क्षत्रियों के रक्त से अपने पिता का तर्पण करने वाले परशुराम को पुकार रही हों –

''तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम्॥
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः॥
श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः॥
भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्ररशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः॥''[६]

यहां पर इन उपर्युक्त अपशकुनों के तुरन्त पश्चात् क्रोधित परशुराम जी का आगमन इन अपशकुनों की सार्थकता को प्रकट करता है।

भगवती सीता तपोवन को देखने की अभिलाषा प्रकट करती है। परन्तु सीता के प्रति अयोध्या में फैले अपवाद को सुनकर राम लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि वह तपोवन को देखने के बहाने से सीता को रथ में बिठाकर वाल्मीकि जी के आश्रम में छोड़ आये –

''प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥''[७]

गर्भिणी सीता इस बात से पूर्णतः अनभिज्ञ है कि राम द्वारा उनका परित्याग किया जा रहा है। लक्ष्मण ने भी मार्ग में सीता जी को कुछ नहीं बतलाया कि उनके ऊपर विपत्ति आने वाली है, परन्तु सीता जी के दाहिने नेत्र ने फड़ककर आने वाले दुःख की सूचना दे दी। यह अपशकुन होते ही सीता का मुँह उतर गया और वे मानने लगीं कि भाईयों के साथ राम सदा सुखी रहें –

''जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन॥
सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः॥''[८]

अतः यहां महाकवि कालिदास यह सिद्ध करना चाह रहें हैं कि स्त्री की दायीं आँख का फड़कना अपशकुन की सूचना देता है। मालविकाग्निमित्र नाटक में नायिका मालविका भय से आतुर होती हुई धरिणी और परिव्राजिका के साथ वैवाहिक वेश में राजा अग्निमित्र के सम्मुख प्रवेश करती है। वह अपने मन में ही विचार करती है कि उसके उस अनुपम रूप में अलंकृत किये जाने का कारण यद्यपि उसे ज्ञात है, परन्तु फिर भी

६. रघुवंश, ११/५८–६१
७. रघुवंश, १४/४५
८. रघुवंश, १४/४९–५०

कमलपत्र पर स्थित जलबिन्दु के समान उसका हृदय कांप रहा है और बायीं आंख भी निरन्तर फड़क रही है –

''मालविका – (आत्मगतम्) जानामि निमित्तं कौतुकालङ्कारस्य। तथापि मे हृदयं बिसिनीपत्रगतमिव सलिलं वेपते। अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति।।''[९]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में जब महर्षि कण्व के शिष्य देवी गौतमी के सहित राजा दुष्यन्त के यहां शकुन्तला को छोड़ने के लिये पहुंचते हैं तो वहां शकुन्तला अपशकुन का प्रदर्शन करते हुये कहती है कि उसकी दाहिनी आँख क्यों फड़कने लगी ? –

''शकुन्तला – (निमित्तं सूचयित्वा) अहो! किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति।।''[१०]

कुमारसम्भव महाकाव्य में जब तारकासुर कुमार कार्तिकेय के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्थान करने के लिये तत्पर होता है तो महाकवि कालिदास ने वहां तारकासुर के लिये अनेक अपशकुनों का वर्णन किया है, जोकि उसकी युद्ध में पराजय के सूचक थे –

''अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तदा।।''[११]

जैसे ही तारकासुर युद्ध के लिये चलने लगा, तुरन्त तैयार किये गये काजल से टूटकर गिरे हुये टुकड़े के समान काले और विषभरी आग की ऊंची-ऊंची लपटें उगलने वाले भयंकर सांप सेना का मार्ग काट-काटकर सामने से निकलने लगे। युद्ध में तारक का रक्त पीने को उतावली सियारिनियां सूर्यमण्डल की ओर मुख करके अत्यन्त भीषण स्वर से रोने लगीं। दिन में ही निकले तारे उस सेना के चारों ओर अत्यन्त वेग से टूट-टूटकर गिरने लगे। यह देखकर लोगों को विश्वास हो गया कि ये समस्त अपशकुन तारकासुर के नाश के लिये ही हो रहे हैं। सूर्य की ओर देखते हुये ऊपर मुँह उठाकर एक साथ बहुत से कुत्ते रोते और बुरी तरह से भौंकते हुये तारकासुर के सामने से निकले। तारकासुर के सिर पर मंडराते हुये गिद्धों को उसके सेवक बार-बार भगा रहे थे, फिर भी वे गिद्ध व्याकुल भाव से सिर पर ही गिरकर मानो यह बतला रहे थे कि अब तारकासुर के दिन पूर्ण हो गये हैं –

''सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्निं विकिरन्त उच्चकैः।
पुरः पथोऽतीत्य महाभुजङ्गमा भयंकराकारभृतो भृशं ययुः।।
मिलन्महाभीमभुजंगभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ।
महासुरस्य द्विषतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयंकरः।।
त्विषामधीषस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाषिरे।
सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव।।
दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः।।

---

९. कालिदास ग्रन्थावली (मालविकाग्निमित्रम्), पंचम अंक, पृष्ठ संख्या – ६३९
१०. कालिदास ग्रन्थावली (अभिज्ञानशाकुन्तलम्) , पंचम अंक, पृष्ठ संख्या – ४१४
११. कुमारसम्भवम् , १५/१३

ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः।।
निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः।
अपाति गृध्रैरभि मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेषिभिः।।''[१२]

इन विभिन्न अपशकुनों को देखकर भी तारकासुर ने युद्ध में जाने से मुंह नहीं मोड़ा और इन अपशकुनों के परिणामस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हो गया -

''अपीति पश्यन् परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम्।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः।।''[१३]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास ने अपनी कृतियों में जिन-जिन शकुनों और अपशकुनों का उल्लेख किया है, वे पूर्णरूप से सार्थक हैं तथा महाकवि कालिदास ने विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से इनकी पुष्टि की है।

-सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग,
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर,
पञ्जाब

१२. कुमारसम्भवम् , १५/१६-१९, २४, २९
१३. कुमारसम्भवम् , १५/२५

वैदिक परम्परा में ज्योतिषशास्त्राधारीत ऋतु - विचार

-डॉ० आकाश

- **ज्योतिषशास्त्र की उत्पत्ति और विकास**

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही मनुष्य की जिज्ञासा का विषय रहा है। वैदिक काल से ही व्यक्ति के जीवन का सम्पूर्ण कौतुहल इस बत पर निर्भर करता है कि वह किस परिवेश व किस परिस्थिति में और कहाँ निवास करता होगा। क्योंकि जब मनुष्य जन्मा होगा संभवत: उस समय आज के समान घर व रहने कि व्यवस्था नहीं रही होगी, वह खुले आकाश के नीचे रहा होगा और यहीं से उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी।

अब जिज्ञासा के मूलाधार को देखें तो हमें पता चलता है कि जब से मानव सभ्यत्ता की उत्पत्ति हुई और सृष्टि की घटित घटनाओं को व्यक्ति ने महसूस किया और उसने आकाश की और देखा, आकाश की ओर दृष्टि डालते ही मानव मस्तिष्क में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई कि ये चमकने वाली वस्तुएँ क्या हैं? ये प्रकाश और अन्धकार का कारण क्या है? इस कारण उसने सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र को जान होगा "ज्योतिष्का: सूर्य चंन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च"[१] और फिर ये ग्रह-नक्षत्र क्या वस्तु हैं? तारे क्यों टूटकर गिरते हैं? पुच्छल तारे क्या हैं? ये दिनों में क्यों विलीन हो जाते हैं? सूर्य प्रतिदिन पूर्व दिशा में ही क्यों उदित होता है? ऋतुएँ क्रमानुसार क्यों आती हैं? आदि ।

मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह जानना चाहता है-क्यों? कैसे? क्या हो रहा है? और क्या होगा? यह केवल प्रत्यक्ष बातों को ही जानकर सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि जिन बातों से प्रत्यक्ष लाभ होने की सम्भावना नहीं है, उनको जानने के लिए भी उत्सुक रहता है। जिस बात के जानने की मानव को उत्कट इच्छा रहती है, उसके अवगत हो जाने पर उसे जो आनन्द मिलता है, जो तृप्ति होती है उससे वह निहाल हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि मानव की उपर्युक्त जिज्ञासा ने ही उसे ज्योतिषशास्त्र के गम्भीर रहस्योद्घाटन के लिए प्रवृत्त किया है। आदिमानव ने आकाश की प्रयोगशाला में सामने आने वाले ग्रह, नक्षत्र और तारों प्रभृति का अपने कुशल चक्षुओं द्वारा पर्यवेक्षण करना प्रारम्भ किया और अनेक रहस्यों का पता लगाया। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि तब से अब तक विश्व की रहस्यमयी प्रवृत्ति के उद्घाटन करने का प्रयत्न करने पर भी यह और उलझता जा रहा है।

सायणाचार्य के अनुसार वेद सम्पूर्ण जगत के इष्ट प्राप्ति का कारण है- **"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर-लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:"**[२] - इस इष्ट की प्राप्ति ज्योतिष के सार्थक ज्ञान से की जा सकता है **'ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्'** अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है। इसमें प्रधानत: ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु आदि ज्योति: पदार्थों का स्वरूप, संचार,

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ४/१२

२. तैत्तिरीय संहिता भाष्य

परिभ्रमणकाल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं का निरूपण एवं ग्रह, नक्षत्रों की गति, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है। कुछ मनीषियों का अभिमत है कि नभोमण्डल में स्थित ज्योति सम्बन्धी विविध विषयक विद्या को ज्योतिर्विद्या कहते हैं; जिस शास्त्र में इस विद्या का सांगोपांग वर्णन रहता है, वह ज्योतिषशास्त्र है। इस लक्षण और पहले वाले ज्योतिषशास्त्र के व्युत्पत्त्यर्थ में केवल इतना ही अन्तर है कि पहले में गणित और फलित दोनों प्रकार के विज्ञानों का समन्वय किया गया है, पर दूसरे में खगोल ज्ञान पर ही दृष्टिकोण रखा गया है। विद्वानों का कथन है कि इस शास्त्र का प्रादुर्भाव कब हुआ, यह अभी अनिश्चित है। हाँ, इसका विकास, इसके शास्त्रीय नियमों में संशोधन और परिवर्द्धन प्राचीन काल से आज तक निरन्तर होते चले आये हैं।

भारतीय ज्योतिष की परिभाषा के स्कन्धत्रय-होरा, सिद्धान्त और संहिता अथवा स्कन्धपंच-होरा, सिद्धान्त, संहिता, प्रश्न और शकुन-ये अंग माने गये हैं। परिभाषा का विश्लेषण किया जाये तो आज का मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, चिकित्साशास्त्र इत्यादि भी इसी के अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इस शास्त्र की परिभाषा भारतवर्ष में समय-समय पर विभिन्न रूपों में मानी जाती रही है। सुदूर प्राचीन काल में केवल ज्योतिः पदार्थों- ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि के स्वरूप-विज्ञान को ही ज्योतिष कहा जाता था। उस समय सैद्धान्तिक गणित का बोध इस शास्त्र से नहीं होता था क्योंकि उस काल में केवल दृष्टि-पर्यवेक्षण द्वारा नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करना ही अभिप्रेत था।

भारतीयों की जब सर्वप्रथम दृष्टि सूर्य और चन्द्रमा पर पड़ी थी, उन्होंने इनसे भयभीत होकर इन्हें दैवत्व रूप में मान लिया था। वेदों में कई जगह नक्षत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा के स्तुतिपरक मन्त्र आये हैं। निश्चय ही प्रागैतिहासिक भारतीय मानव ने इनके रहस्य से प्रभावित होकर ही इन्हें दैवत्व रूप में माना है।

ब्राह्मण और आरण्यकों के समय में यह परिभाषा और विकसित हुई तथा उस काल में नक्षत्रों की आकृति, स्वरूप, गुण एवं प्रभाव का परिज्ञान प्राप्त करना ज्योतिष माना जाने लगा। आदिकाल में नक्षत्रों के शुभाशुभ फलानुसार कार्यों का विवेचन तथा ऋतु, अयन, दिनमान, लग्न आदि के शुभाशुभानुसार विधायक कार्यों को करने का ज्ञान प्राप्त करना भी इस शास्त्र की परिभाषा में परिगणित हो गया। सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, वेदांग ज्योतिष आदि ग्रन्थों के प्रणयन तक ज्योतिष के गणित और फलित-ये दो भेद स्पष्ट नहीं हुए थे। यह परिभाषा यहीं सीमित नहीं रही, ज्ञानोन्नति के साथ-साथ विकसित हुई राशि और ग्रहों के स्वरूप, रंग, दिशा, तत्त्व, धातु इत्यादि के विवेचन भी इसके अन्तर्गत आ गये।

आदिकाल के अन्त में ज्योतिष के गणित, सिद्धान्त और फलित ये तीनों भेद स्वतन्त्र रूप से प्रस्फुटित हो गये थे। ग्रहों की गति, स्थिति, अयनांश, पात आदि गणित ज्योतिष के अन्तर्गत तथा शुभाशुभ समय का निर्णय, विधायक, यज्ञ-यागादि कार्यों के करने के लिए समय और स्थान का निर्धारण फलित ज्योतिष का विषय माना जाता था। पूर्वमध्यकाल की अन्तिम शताब्दियों में सिद्धान्त ज्योतिष के स्वरूप में भी विकास हुआ, लेकिन खगोलीयनिरीक्षण और ग्रहवेध की परिपाटी के कम हो जाने से गणित के कल्पनाजाल द्वारा ही ग्रहों के स्थानों का निश्चय करना सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत आ गया। तथा पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भ में ज्योतिष का अर्थ

स्कन्धत्रय-होरा, सिद्धान्त और संहिता के रूप में ग्रहण किया गया।[३]

ऋतुविचार-

उदयकाल में ऋतु-विचार किया जाता था। ई.पू. ८००० में वसन्त ऋतु ही प्रारम्भिक ऋतु मानी जाती थी, किन्तु ई.पू. ५०० में प्रारम्भिक ऋतु वर्षा ऋतु मानी जाने लगी थी। तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है -

मधुश्च माधवश्चवासन्तिकावृत् शुक्रश्च शुचिश्चग्रैष्मावृत् नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत् इषश्चोर्जश्चशारदावृत् सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृत् तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृत्।[४]

अर्थात्-मधु और माधव वसन्त ऋतु, शुक्र और शुचि ग्रीष्म ऋतु, नभस् और नभस्य वर्षा ऋतु, इष और ऊर्ज शरद् ऋतु, सहस और सहस्य हेमन्त ऋतु एवं तपस और तपस्य शिशिर ऋतुवाले मास हैं।

ऋग्वेद में ऋतु शब्द कई स्थानों पर आया है पर वहाँ इस शब्द का प्रयोग वर्ष के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में पाँच ही ऋतु आयी हैं। उसमें हेमन्त और शिशिर इन दोनों को एक ही रूप में माना है-

द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋतुओं का उल्लेख करते हुए बताया गया है -[५]

तस्य ते वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षः पुच्छम्। शरदुत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम्।[६]

अर्थात्-वर्ष का सिर वसन्त, दाहिना पंख ग्रीष्म, बायाँ पँख शरद, पूँछ वर्षा और हेमन्त को मध्य भाग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण काल में वर्ष को पक्षी के रूप में माना गया है और ऋतुओं को उसका विभिन्न अंग बतलाया है।

---

३. भारतीय ज्योतिष पृष्ठ ५१

४. तैत्तिरीय संहिता- ४.४.११

५. ऐतरेय ब्राह्मण- १.१

६. तैत्तिरीय संहिता- ३.१०.४.१

तैत्तिरीय संहिता में ऋतु का एक पात्र रूप में वर्णन करते हुए बताया गया है कि-

उभयतो मुखमृतुपात्रं भवति को हि तद्वेद: यदृतूनां मुखम् ।[७]

तात्पर्य यह है कि ऋतु पात्र के दोनों ओर मुख रहते हैं। लेकिन इन मुखों की दिशा का ज्ञान करना कठिन है।

स्वराक्रमेते सौमार्कौ यदा साकं सवासवौ ।
स्यात् तदादियुगं माघस्तपः शुक्लोऽयनह्युंदक् ।।[८]
प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोः सदा ।।

पञ्चसंवत्सरात्मक युग का आरम्भ इसी बात पर निर्भर करता है कि जब सूर्य और चन्द्रमा एक साथ एकत्र होकर (वासव) धनिष्ठा नक्षत्र में आकाश में आक्रमण करते हैं तब उस समय माघ मास, तपस ऋतु, शुक्ल पक्ष और उदगयन उत्तरायन का आरम्भ होता है।

इस प्रकार धनिष्ठा के आरम्भ से सूर्य चन्द्रमा उत्तर की ओर मुडते हैं और आश्लेषा के आधे में दक्षिण की ओर सूर्य तो माघ और श्रावण मासों में सदा क्रमशः उत्तर व दक्षिण की ओर मुडता है। बह्वृच ब्राह्मण में तिथि का लक्षण दिया है और कहा है जिसमें चन्दमा उगता है और अस्त होता है उसे तिथि कहते हैं **"यां पर्यस्तमियादभ्यु दियादिति सा तिथिः।।"**[९] इसलिये एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक चान्द्रमास कहलाता है -

'अमान्तादमान्ताद् चान्द्रमासः'

ऋतु की स्थिति सूर्य पर निर्भर है। एक वर्ष में सौरमास का आरम्भ चान्द्रमास के आरम्भ के साथ ही होता है।

एक वर्ष में दो अयन होते हैं जिनका अन्तर छह-छह महीनों का होता है। इस प्रकार युगारम्भ माघ शुक्ल प्रतिपदा को होता है तथा छह महीने बाद श्रावण शुक्ल सप्तमी को दक्षिणायन प्रारम्भ होता है, तीसरा अयन माघ की शुक्ल त्रयोदशी को, चतुर्थ अयन श्रावण मास कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को तथा पाँचवाँ माघ मास की कृष्ण पक्ष की दशमी को आरम्भ होता है।

एक युग में ६२ चान्द्रमास होते हैं, तदनुसार १० अयन होंगे। जो पहले पाँच अयनों की तिथियाँ गिनायी गयी हैं, वही शेष ५ अयनों में पुनरावृत्त होंगी। 'ऋतौ' शब्द का अर्थ पुनरावृत्त काल है अथवा पक्ष है।[१०] इस प्रकार एक अयन के पश्चात् दूसरे अयन पर्यन्त एक चान्द्रवर्ष दिनार्ध समा तिथियाँ होती हैं।

एक सौर वर्ष में = ३७२ चान्द्र तिथियाँ

आधे सौर वर्ष में = १८६ चान्द्र तिथियाँ

इसको ३० से भाग देने पर लब्धि ६ मास तथा ६ तिथि आती है। इसी के अनुसार अयन परिवर्तन में चान्द्र मास की तिथियाँ होंगी १, ७, १३, १९, २५, १, ७, १३, १९, २५

यहाँ 'ऋतु' शब्द संख्या वाचक है, जिसका अर्थ ६ है।

७. तैत्तिरीय संहिता-६.५.३

८. लगधज्योतिष

अयनारम्भ	तिथि	पक्ष	मास
प्रथम	प्रतिपदा	शुक्ल	माघ
द्वितीय	सप्तमी	शुक्ल	श्रावण
तृतीय	त्रयोदशी	शुक्ल	माघ
चतुर्थ	चतुर्थी	कृष्ण	श्रावण
पञ्चम	दशमी	कृष्ण	माघ
षष्ठ	प्रतिपदा	शुक्ल	श्रावण
सप्तम	सप्तमी	शुक्ल	माघ
अष्टम	त्रयोदशी	शुक्ल	श्रावण
नवम	चतुर्थी	कृष्ण	माघ
दशम	दशमी	कृष्ण	श्रावण

वस्तु स्त्वष्ठा भवोऽजश्च मित्रः सर्पोऽश्विनौ जलम् ।
धाता कश्चायनाद्याः स्युरर्धपञ्चमभस्त्वृतुः ॥
एकान्तरेऽह्नि मासे च पूर्वान कृत्वादिरुत्तरः।
अर्धयोः पञ्चपर्वाणां मृदू पञ्चदशाष्टमौ॥[११]

(एक वर्ष में सूर्य नक्षत्र २७ होते है। एक वर्ष में (सौर) सूर्य छह ऋतुएँ होती हैं इसलिये सूर्य कितने नक्षत्रों का भोग करेगा २७/६ =४ माह एवं 15 दिन की एक ऋतु होती है)

पूर्व ऋतु का आरम्भ एक दिन और एक मास के अन्तर से (अर्थात् बीच में एक मास और एक तिथि छोड़कर) उत्तर ऋतु का आरम्भ (होता है)। पाँच पर्वों वाले संवत्सर के दो आधों का (प्रारम्भ में या अयनारम्भ में) आठवीं ऋतु-मृदु-पन्द्रहवीं तिथि को होती है।

युग के आरम्भ में कौन सी ऋतु थी। इसका विवेचन करता है। √ऋ धातु से तु प्रत्यय लगकर 'ऋतु' शब्द बना है। 'ऋ' धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त होती है अथवा गत्यर्थक है। जो चले या गति करे या जाए वह ऋतु है। वास्तव में प्रत्येक ऋतु गमनशील है और यही गुण काल का भी है। इसलिए काल शब्द की निष्पत्ति भी भाषावैज्ञानिकों ने इण्डो यूरोपियन धातु कैल अथवा कल् धातु से मानी है। इसका अर्थ है चलाना या जो प्राणियों को चलाये। काल परिवर्तनशील है इसलिये समय, काल, ऋतु आदि सभी कुछ गतिशील हैं। ऋग्वेद में ऋतु शब्द का प्रयोग एक निश्चित कालावधि के रूप में आया है। एक निश्चित समय पर एक मौसम को आता व जाता देकर, इनका नाम ऋतु रख दिया गया। आधुनिक ऋतु के अर्थ में भी ऋग्वेद में ऋतु का उल्लेख मिलता है। **"पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृति"** ऋचा में पाँच ऋतुओं के माने जाने की सूचना मिलती है। जिसमें शिशिर ऋतु का नाम वर्तमान नाम आये हैं। तदनुसार नहीं मिलता। बाद में षड् ऋतुयें मानी जाने लगीं। तैत्तिरीय संहिता में इन ऋतुओं के नाम इस प्रकार हैं-

११. याजुषज्यौतिष १०-१२

मधु, माधव –वसन्त
शुक्र, शुचि–ग्रीष्म
नभ, नभस्य –वर्षा
इष, ऊर्ज –शरद्
सह सहस्य –हेमन्त तथा
तप, तपस्य–शिशिर

पाँच संवत्सर वाले एक युग के दो भाग कर देखा। इनमें बारी–बारी से (Alternatively) एक चान्द्र मास और तिथि आती है तथा पहली ऋतु के उपरान्त दूसरी आती है। दूसरे शब्दों में, दो लगातार (Consecutive) ऋतुएँ, अन्तराल के बाद चान्द्रमासों तथा दो तिथियों को आती हैं। क्योंकि ६२ चान्द्रमासों में ३० ऋतुएँ होती हैं।

युग की प्रथम ऋतु शिशिर है जिसकी पुष्टि स्वयं ही वेदाङ्ग ज्योतिष के कथन से होती है कि युगारम्भ में प्रथम ऋतु मास तपस् थी। तपस् और तपस्य आज की शिशिर ऋतु के वैदिक नाम है। इसके बाद अगली ऋतु वसन्त दो चान्द्र मासों व दो तिथियों बाद आएगी अर्थात् चौत्र शुक्ल तृतीया को होगी क्योंकि शिशिर ऋतु माघ शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ होगी। इस प्रकार १५ वीं तिथि अर्थात् पूर्णिमा, आठवीं ऋतु पर आएगी। इस प्रकार–

१. शिशिर – माघ, शुक्ल प्रतिपदा
२. वसन्त – चैत्र, शुक्ल तृतीया
३. ग्रीष्म – ज्येष्ठ, शुक्ल पञ्चमी
४. वर्षा – श्रावण, शुक्ल सप्तमी
५. शरद् – आश्विन, शुक्ल नवमी
६. हेमन्त – मार्गशीर्ष, शुक्ल एकादशी
७. शिशिर – माघ, शुक्ल त्रयोदशी
८. वसन्त – चैत्र, शुक्ल पञ्चदशी–चैत्री पूर्णिमा

प्रथम वर्ष के सौरमास का आरम्भ शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को और आगे आने वाले तीसरे वर्ष में सौरमास का आरम्भ कृष्णपक्ष की अष्टमी को बताया गया है।

सारांश यह है कि सर्वदा सौरमास और चान्द्रमास वैदिक युग का आरम्भ एक तिथि को न होने के कारण ऋतु आरम्भ की तिथि अनियमित है। पूर्व माना जाता था कि वर्षा ऋतु का आरम्भ निरयन मृगशिरा नक्षत्र के आरम्भ के कुछ पूर्व या उत्तर प्रकाश मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में निम्न आख्यायिका आयी है, जिससे ऋतु के सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश मिलता हैं।

प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजनास्य पर्वाणि विसस्रꣳसुः स वै संवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयोः सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि।।

स विस्रस्तैः पर्वभिः न शशाक सꣳहातुं तेमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणैवाहो–

रात्रयोः सन्धी तत्पर्वाभिषज्यंस्तत्समदधुः पौर्णमासेन चैवामावास्येन च पौर्णमासीं चामावास्यां च